अथ कृदन्तप्रकरणम्

अथ कृत्यप्रक्रिया

७६५. [५]धातोः (३/१/९१)

आतृतीयाध्यायसमाप्ति ये प्रत्ययाः ते धातोः परे स्युः। 'कृदतिङ्' इति 'कृत्' संज्ञा।

धातोरिति— तृतीय अध्याय की समाप्ति तक जो प्रत्यय कहे गये हैं, वे धातु से परे हों।

'कृदतिङ्' के द्वारा इन प्रत्ययों की 'कृत्' संज्ञा है।

७६६. **वाऽस[१]रूपोऽस्त्रियाम्[७]** (३/१/९४)

अस्मिन्धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात् स्त्र्यधिकारोक्तं विना।

वेति— असरूप अर्थात् असमान रूप वाला अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग सूत्र का विकल्प से बाधक हो, 'स्त्रियां' के अधिकार में कथित प्रत्ययों को छोड़कर।

'तव्यत्' उत्सर्ग प्रत्यय है तथा 'ण्यत्' आदि विशेष (अपवाद) प्रत्यय हैं। प्रकृत सूत्र के द्वारा ण्यत् की प्रवृत्ति विकल्प से होगी तथा पक्ष में उत्सर्ग प्रत्यय 'तव्यत्' आदि होंगे।

सूत्र में पठित 'असरूप' का अर्थ है कि पूर्वोक्त कार्य वहीं होगा, जहाँ उत्सर्ग तथा अपवाद प्रत्ययों का स्वरूप एक समान न हो। चूँकि 'अण्' तथा 'क' प्रत्ययों का स्वरूप एक जैसा है, अतः 'क', 'अण्' का बाध नित्य करेगा।

इस प्रकरण में रूप सिद्धि प्रक्रिया के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

१. सर्वप्रथम धातु संज्ञा व अनुबन्ध लोप कर लेना चाहिए।

२. 'धातोः', 'प्रत्ययः', 'परश्च' के अधिकार में ही कृत् प्रत्यय की उत्पत्ति करनी चाहिए।

३. धातु से गुण वृद्धि आदि आवश्यक कार्य करने के बाद सूत्र (१२५) पर दर्शित रीति से सुप् प्रत्ययों की उत्पत्ति करके परिनिष्ठित रूप बनाना चाहिए।

यहाँ विस्तारभय से इसे सर्वत्र न दिखा कर सीधे कृत् प्रत्यय की उत्पत्ति दिखाई जायेगी। छात्रों को विस्तरेण इस रीति का अनुगमन करना चाहिए, अन्यथा प्रक्रिया अधूरी मानी जायेगी।

७६७. [१]कृत्याः (३/१/९५)

'ण्वुलतृचौ (३/१/१३३)' इत्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञा स्युः

कृत्या इति— 'ण्वुल्तृचौ' (पा० ३/१/१३३) से पहले के प्रत्यय कृत्य संज्ञक हों।

७६८. [७]कर्तरि कृत्[१] (३/४/६७)

'कृत्' प्रत्ययः कर्तरि स्यात्। इति प्राप्ते –

कर्तरीति— कृत् प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में हों।

७६९. [७]तयोरेवँ कृत्य-क्त-खलर्थाः[१] (३/४/७०)

एते भावकर्मणोरेव स्युः।

तयोरिति— कृत्य, क्त और खलर्थ प्रत्यय भाव और कर्म में हों।

इनमें कर्त्ता अनुक्त रहता है। अतः उसमें तृतीया विभक्ति होती है।

मया पठितव्यम् (कृत्य)। मया पठितम् (क्त)।

मया सुकरम् इदं कार्यम् (खलर्थ)।

७७०. [१]तव्यत्-तव्यानीयरः (३/१/९६)

धातोरेते प्रत्ययाः स्युः। एधितव्यम् एधनीयं त्वया। भावे-औत्सर्गिकम् एकवचनं क्लीबत्वं। चेतव्यः चयनीयो वा धर्मस्त्वया।

(वा०) केलिमर उपसंख्यानम्। पचेलिमा भाषाः, पक्तव्या इत्यर्थः। भिदेलिमाः सरलाः, भेत्तव्या इत्यर्थः। कर्मणि प्रत्ययः।

तव्यदिति— धातु से तव्यत्, तव्य तथा अनीयर् हों।

तव्यत् का तकार इत्संज्ञक है। अनीयर् का रेफ इत्संज्ञक है।

'एध्' से भाव में तव्य तथा अनीयर् हुए। आर्धधातुक इट् होकर 'एधितव्यम्' रूप बना। अनीयर् में 'एधनीयम्' बनेगा।

एधितव्यम्

एध्— 'भूवादयो धातवः' से धातु संज्ञा, अनुबन्धलोप।

एध्तव्यत्— 'धातोः', 'प्रत्ययः', 'परश्च' के अधिकार में 'तव्यतव्यानीयरः' सूत्र से 'तव्यत्' प्रत्यय 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' से भाव में हुआ।

एध् इट् तव्य— 'तव्यत्' के तकार की इत्संज्ञा व लोप। प्रत्यय की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक संज्ञा तथा 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से इट् हुआ।

एधितव्य— टकार की इत्संज्ञा व लोप। 'कृदतिङ्' से 'तव्य' की कृत् संज्ञा हुई। 'एधितव्य' कृदन्त शब्द हुआ।

एधितव्य सु— सुबन्त प्रकरण में सूत्र १२५ पर दर्शाए अनुसार सुप् प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई। प्रथमा एकत्व की विवक्षा में 'सु' हुआ।

एधितव्यम्— चूँकि 'तव्यत्' प्रत्यय भाव में है। अतः नपुँसकलिङ्ग हुआ। तब 'अम्' आदेश (अतोऽम्) आदि कार्य होकर रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार 'एधनीयम्' की सिद्धि के विषय में जानना चाहिए। कृदन्त प्रकरण में रूप सिद्धि का विस्तृत प्रकार इसी प्रकार रहेगा परन्तु विस्तारभय से इसे सर्वत्र दिखाया नहीं गया है।

भाव में सामान्यतः नपुँसकलिङ्ग एक वचन होता है।

'चि' धातु सकर्मक है। तब कर्म में तव्यत् तथा अनीयर् होंगे।

'चेतव्यः/चयनीयः धर्मस्त्वया'— कर्म प्रधान होने से प्रथमान्त है तथा कर्त्ता अनुक्त होने से उसमें तृतीया है। चि तव्यत्-चि तव्य- चे तव्य—सार्वधातुकार्धधातु०। सु। चि अनीयर्— चे अनीय—चय् अनीय एचोऽयवायावः। सु।

(वा०) केलिमर् भी होता है।

इसके ककार और रेफ इत्संज्ञक हैं।

पच् से केलिमर् होकर 'पचेलिमाः माषाः' रूप बना। इसका अर्थ है — पक्तव्याः। पच् केलिमर्—पच् एलिम- जस्। पचेलिम अस्।

७७१. [१]कृत्य-ल्युटो बहुलम्[१] (३/३/११३)

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।

विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥१॥

'स्नान्ति-अनेन' इति स्नानीयं चूर्णम्। दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः।

कृत्येति— कृत्य और ल्युट् बहुल से होते हैं। 'बहुल' का अर्थ है — जहाँ विधान न हो वहाँ भी प्रवृत्त होना।

सामान्यतः कृत्य भाव तथा कर्म में होते हैं। प्रकृत सूत्र के द्वारा ये अन्य कारकों में भी होते हैं।

'स्नान्ति अनेनेति स्नानीयं चूर्णम्' — यहाँ करण में अनीयर् हुआ है।

'दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः' — यहाँ सम्प्रदान में अनीयर् हुआ है।

७७२. [५]अचो यत्[१] (३/१/९७)

अजन्ताद् धातोर्यत् स्यात्। चेयम्।

अच इति— अजन्त धातु से 'यत्' हो।

चेयम्

चिञ् चयने — 'भूवादयो धातवः' से धातु संज्ञा, 'हलन्त्यम्' से ञकार की इत् संज्ञा, 'तस्य लोपः' से ञकार लोप, 'अदर्शनं लोपः' से लोपसंज्ञा।

चि यत् — 'धातोः', '[illegible]', 'परस्य' इन तीन अधिकारों के द्वारा 'अचो

	यत्' से 'यत्' हुआ। तकार की पूर्ववत् इत् संज्ञा व उसका लोप।
चे य —	'य' की आर्धधातुक संज्ञा, आर्धधातुक गुण (सार्वधातुकार्ध०)। अब 'कृदतिङ्' से 'यत्' की कृत् संज्ञा हुई। तब 'चेय' के कृदन्त होने के कारण 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से उसकी प्रातिपादिक संज्ञा तथा सुप् प्रत्ययों की उत्पत्ति (सूत्र १२६)
चेय सु —	नपुँसकलिंग में 'अम्' आदेश (अतोऽम्) तथा पूर्वरूप (अमि पूर्वः) आदि कार्य होकर रूप बना।

आगे कृदन्त प्रकरण में सिद्धि का क्रम सर्वत्र यही रहेगा।

७७३. [१]**ईद् यति**[७] (६/४/६५)

यति परे आत ईत् स्यात्। देयम्। ग्लेयम्।

ईदिति— यत् परे रहते आकार को ईकार हो।

'दा' से कर्म में 'यत्' हुआ। प्रकृत् सूत्र के द्वारा ईकार होकर आर्धधातुक गुण हुआ। दा > दी यत्। देयम्।

इसी प्रकार 'ग्लै' से भाव में यत् है। तब 'आदेच उपदेशेऽशिति' के द्वारा आकार हुआ। ग्लै यत्। ग्ला यत्। 'अचो यत्' के द्वारा यत् तथा प्रकृत सूत्र द्वारा ईकार हुआ। ग्ली यत्। गुण (सार्वधातुकार्ध०) होकर 'ग्लेयम् रूप बना।

७७४. [५]**पोरदुपधात्**[५] (३/१/९८)

पवर्गान्ताद् अदुपधाद् यत् स्यात्। ण्यतोऽपवादः। शप्यम्। लभ्यम्।

पोरिति— पवर्गान्त अदुपध धातु से यत् हो। अदुपध का अर्थ है— अत् (ह्रस्व अकार) है उपधा में जिसके।

'ऋहलोर्ण्यत्' से प्राप्त यत् का यह बाधक है।

'शप्' पवर्गान्त तथा अदुपध है। यहाँ ण्यत् प्राप्त था, परन्तु प्रकृत सूत्र के द्वारा यत् होकर 'शप्यम्' रूप बना। इसी प्रकार 'लभ्यम्' बनेगा।

७७५. [५]**एति-स्तु-शास-वृ-दृ-जुषः क्यप**[१] (३/१/१०९)

एभ्यः क्यप् स्यात्।

एतीति— इण्, स्तु, शास्, वृ, दृ तथा जुष् से क्यप् होता है।

क्यप् के ककार तथा पकार इत्संज्ञक हैं।

७७६. [६]**ह्रस्वस्य**[७] **पिति** [७]**कृति** [१]**तुक्** (६/१/७१)

इत्यः। स्तुत्यः। शासु-अनुशिष्टौ।

ह्रस्वस्येति— पित् कृत् परे रहते ह्रस्व को तुक् आगम हो।

'इण्' से ण्यत् की प्राप्ति हुई। उसे बाध कर क्यप् हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा तुक् होकर 'इत्यः' रूप बना।

इसी प्रकार 'स्तु यत्' — यहाँ यत् को बाध कर क्यप् हुआ। तब तुक् होकर 'स्तुत्य:' बना।

'शास्' मूल में नहीं है।

७७७. [६]**शास इद्[१] अङ्-हलो:[७] (६/४/३४)**

शास उपधाया 'इत्' स्यादङि हलादौ क्ङिति। शिष्य:। वृत्य:। आदृत्य:। जुष्य:।

शास इति— अङ् या हलादि कित् ङित् परे रहते 'शास्' की उपधा को इकार हो।

शास् से ण्यत् हुआ। उसे बाधकर क्यप् हुआ। तब उपधा को इकार होकर 'शिष्य:' बना। यहाँ 'शासिवसिघसीनां च' के द्वारा मूर्द्धन्य आदेश हुआ है। वृ से क्यप्, तुक् होकर 'वृत्य:' बना। आ पूर्वक दृ से 'आदृत्य:' बना।

जुष् क्यप् — जुष्य:।

७७८. [५]**मृजेर्विभाषा (३/१/११३)**

मृजे: क्यब् वा। मृज्य:।

मृजेरिति— मृज् से क्यप् विकल्प से हो।

क्यप् पक्ष में गुण निषेध (क्ङिति च) होकर 'मृज्य:' बनेगा।

७७९. [६]**ऋहलोर्ण्यत्[१] (३/१/१२४)**

ऋवर्णान्ताद् हलन्ताच्च धातोर्ण्यत्। कार्यम्। हार्यम्। धार्यम्।

ऋकारान्त तथा हलन्त से ण्यत् होता है।

ण्यत् के णकार तथा तकार इत्संज्ञक हैं।

कृ से ण्यत् होने पर वृद्धि (अचो ञ्णिति। उरण् रपर:) होकर 'कार्यम्' बनेगा। हृ से 'हार्यम्' तथा धृ से 'धार्यम्' बनेगा।

'ऋहलो:' — यहाँ पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी हुई है।

७८०. [६]**च-जो: कु[१] घिण्-ण्यतो:[७] (७/३/५२)**

चजो: कुत्वं स्यात् घिति ण्यति च परे।

चजोरिति— घित् तथा ण्यत् परे रहते चकार और जकार को कुत्व हो। 'घित्' का अर्थ है— जिसका घकार इत् संज्ञक है।

७८१. [६]**मृजेर्वृद्धि:[१] (७/२/११४)**

मृजेरिको वृद्धि: सार्वधातुकाऽऽर्धधातुकयो:। मार्ग्य:।

मृजेरिति— सार्वधातुक या आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते मृज् के इक् को वृद्धि हो।

'मृजेर्विभाषा' के द्वारा क्यप् विकल्प से होता है। पक्ष में ण्यत् हुआ। प्रकृत सूत्र से वृद्धि हुई। मृज् ण्यत् — मार्ज् ण्यत्। 'चजो: कु घिण्ण्यतो:' सूत्र से कुत्व हुआ। तब 'मार्ग्य:' रूप बना।

७८२. [१]**भोज्यं भक्ष्ये[७] (७/३/६९)**

भोग्यमन्यत्। इति कृत्यप्रक्रिया।

भोज्यमिति— भक्ष्य अर्थ में 'भोज्य' शब्द का निपातन होता है।

भुज् से ण्यत् हुआ। उपधा को गुण हुआ। 'चजोः कुः —' के द्वारा प्राप्त कुत्व का निपातन के द्वारा निषेध होकर 'भोज्यम्' रूप बना। इसका अर्थ है — भक्षण करने योग्य।

भक्ष्य अर्थ से अतिरिक्त अर्थ में कुत्व होकर 'भोग्यम्' (अर्थात् उपभोग के योग्य) रूप बनेगा।

॥ कृत्यप्रक्रिया समाप्त ॥

अथ पूर्वकृदन्तम्

७८३. [१]**ण्वुल्-तृचौ (३/१/१३३)**

धातोरेतौ स्तः। 'कर्तरि कृत्' इति कर्त्रर्थे।

ण्वुलिति— धातु से ण्वुल् तथा तृच् हों। ये कर्ता में हों।

७८४. [६]**यु-वोरनाऽकौ**[१] **(७/१/१)**

'यु वु' एतयोः 'अनाऽकौ' स्तः। कारकः। कर्ता।

युवोरिति— 'यु' तथा 'वु' को क्रमशः 'अन' तथा 'अक' आदेश हों।

ण्वुल् के णकार तथा लकार इत्संज्ञक हैं। तृच् का चकार इत्संज्ञक हैं।

कृ से कर्तृ अर्थ में ण्वुल् हुआ तब 'अक' आदेश, वृद्धि होकर 'कारकः' रूप बना।

कारकः

डुकृञ्—	'भूवादयो धातवः' से धातुसंज्ञा, 'आदिर्ञिटु०' से 'डु' की तथा 'हलन्त्यम्' से 'ञ्' की इत्संज्ञा। तब दोनों का लोप।
कृ ण्वुल्—	'धातोः', 'प्रत्ययः', 'परश्च' का अधिकार है। 'ण्वुल्तृचौ' से 'ण्वुल्' प्रत्यय 'कर्तरि कृत्' से कर्त्ता अर्थ में हुआ। 'कृदतिङ्' से इसकी कृत् संज्ञा हुई। 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' से कर्त्ता संज्ञा।
कृ वु—	'हलन्त्यम्' तथा 'चुटू' से अनुबन्ध लोप। 'यस्मात् प्रत्ययविधि०' से 'कृ' की अङ्ग संज्ञा।
कृ अक—	'अङ्गस्य' के अधिकार में 'युवोरनाकौ' से 'वु' को यथासंख्य अक आदेश प्राप्त हुआ।
कार् अक—	अङ्गाधिकार में वर्तमान 'अचो ञ्णिति' से अजन्त अङ्ग 'कृ' को णित् परे होने से वृद्धि आदेश प्राप्त हुआ। 'वृद्धिरादैच्' तथा 'स्थानेऽन्तरतमः' के द्वारा आकार आदेश की प्राप्ति हुई। 'उरण् रपरः' से रपरक आकार आदेश हुआ।
कारक सु—	सू १२५ पर प्रदर्शित रीति से कृदन्त संज्ञा, प्रातिपदिक संज्ञा होकर सुप् की उत्पत्ति हुई।

कारक:— प्रथमा एकव० में 'सु' आकर रूप बना।

तृच् होकर गुण हुआ 'कृ' से कर्त्ता।

७८५. [5]**नन्दि-ग्रहि-पचाऽऽदिभ्यो ल्युणिन्यचः**[1] (३/१/१३४)

नन्द्यादेर्ल्युः, ग्रह्यादेर्णिनिः, पचादेरच् स्यात्। नन्दयतीति नन्दनः, जनमर्दयतीति जनार्दनः, लवणः। ग्राही, स्थायी, मन्त्री। पचादिराकृतिगणः।

नन्दीति— नन्द् आदि से ल्यु, ग्रह् आदि से णिनि तथा पच् आदि से अच् हो।

ल्यु का लकार, णिनि के णकार, इकार तथा अच् का चकार इत्संज्ञक हैं।

ये सभी कर्त्ता अर्थ में होंगे।

नदि ल्यु (इदितो नुम् धातोः)— नन्द् अन (युवोरनाकौ)— नन्दन — नन्दनः।

इसी प्रकार 'लू' से 'ल्यु' होकर— लवणः।

'ग्रह् णिनि' — यहाँ उपधा वृद्धि होकर 'ग्राही' रूप बना।

इसी प्रकार ' स्था णिनि' — यहाँ 'आतो युक् —' के द्वारा 'युक्' होकर- स्था युक् णिनि इस दशा में अनुबन्ध लोप, सु। स्थायी।

'मन्त्र् णिच् णिनि' — यहाँ णि लोप होकर 'मन्त्री' रूप बना।

पचादि आकृतिगण है। अच् होने पर 'पचः', नदः, 'चोरः' आदि रूप बनेंगे।

७८६. [5]**इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः कः**[1] (३/१/१३५)

एभ्यः कः स्यात्। बुधः। कृशः। ज्ञः। प्रियः किरः।

इगिति— इगुपध, ज्ञा, प्री और कृ धातुओं से 'क' हो।

'क' का ककार इत्संज्ञक है (लशक्वतद्धिते)।

बुध् क — बुधः। लघूपध गुण नहीं हुआ।

कृश् + क — कृशः।

'ज्ञा + क' — यहाँ 'आतो लोप इटि च' के द्वारा आकार लोप होकर 'ज्ञः' रूप बना। 'प्री + क' — यहाँ इयङ् आदेश होकर 'प्रियः'। प्री क— लशक्वतद्धिते। सार्वधातुकार्धधातुकयोः। क्ङिति च। अचि श्नुधातु०। प्रियङ् अ— प्रिय् अ सु। इसी प्रकार 'किरः'। कृ क— प्राप्त गुण का निषेध। ॠत इद् धातोः; उरण् रपरः। किर् अ सु।

७८७. [5]**आतश्चोपसर्गे**[7] (३/१/१३६)

प्र ज्ञः। सुग्लः।

आत इति— उपसर्ग पूर्वक आदन्त धातु से 'क' हो।

'प्र ज्ञा + क' — पूर्ववत् आलोप होकर 'प्रज्ञः' बना।

'सु ग्लै + क' — यहाँ आ का अन्तादेश हुआ। सुग्ला क। तब आलोप (आतो लोप इटि च) होकर 'सुग्लः' रूप बना।

७८८. **गेहे**[1] **कः**[1] (३/१/१४४)

गेहे कर्तरि ग्रहेः कः स्यात्। गृहम्।

गेह इति— गेह कर्त्ता अर्थ में ग्रह् से 'क' हो।

'ग्रह् क' —' ग्रहिज्यावयि —' के द्वारा सम्प्रसारण होकर 'गृहः' रूप बना। यह अर्धर्चादि गण में होने से पुँल्लिङ्ग तथा नपुंसक दोनों है। अमरकोश के अनुसार पुँल्लिङ्ग में बहुवचनान्त होता है। यथा-गृहाः।

७८९. [७]**कर्मण्यण्**[१] (३/२/१)

कर्मण्युपदे धातोः 'अण्' प्रत्ययः स्यात्। 'कुम्भं करोति' इति – कुम्भकारः।

कर्मणीति— कर्म उपपद रहते 'अण्' हो।

'कुम्भं करोति इति' — इस विग्रह के अनुसार 'कुम्भ अम् कृ अण्' यह स्वरूप बना। 'अचो ञ्णिति' के द्वारा वृद्धि हुई। 'उपपदमतिङ्' से समास हुआ। 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा हुई। 'सुपो धातु'— के द्वारा प्रातिपदिक के अवयवस्वरूप 'अम्' का लोप हो गया। कुम्भ कार् अण्। तब पुनः सुप् की उत्पत्ति होकर 'कुम्भकारः' रूप बना।

७९०. [५]**आतोऽनुपस**[७]**र्गे कः**[१] (३/२/३)

आदन्तात् धातोरनुपसर्गात् कर्मण्युपपदे कः स्यात्। अणोऽपवादः।

आतो लोपः-गोदः, धनदः, कम्बल-दः। अनुपसर्गे किम्-गोसंदायः।

(वा०) मूल-विभुजाऽऽदिभ्यः कः। मूलानि विभुजति इति मूलविभुजो रथः। आकृतिगणोऽयम्। महीध्रः, कुध्रः।

आत इति— उपसर्ग रहित आदन्त धातु से 'क' हो, कर्म उपपद रहते।

यह प्रत्यय 'कर्मण्यण्' का बाधक है।

गां ददाति इति — गो दा क। तब आकार का लोप होकर 'गोदः' रूप बना।

इसी प्रकार 'धनदः' तथा 'कम्बलदः' रूप बनेंगे (लशक्कतद्धिते)।

'आकारान्त धातु के साथ उपसर्ग नहीं हो' — ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि 'गां संददाति' इस अर्थ में सम् का योग होने से 'क' प्रत्यय नहीं हुआ। सामान्य अण् हुआ। तब युक् होकर 'गोसंदायः' रूप बनेगा।

(वा०) मूलविभुज आदि शब्दों में 'क' हो।

मूलानि विभुजति। मूलविभुज् क। मूलविभुजः। मूलविभुज - आदि आकृतिगण है।

इसी प्रकार - महीध्रः, कुध्रः रूप बनेंगे। यहाँ यणादेश हुआ है।

७९१. [५]**चरेष्टः**[१] (३/२/१६)

अधिकरणे उपपदे। कुरुचरः।

चरेरिति— अधिकरण उपपद रहते 'चर्' से 'ट' प्रत्यय हो।

कुरुषु चरति इति — कुरु चर् ट — कुरुचरः (चुटू)।

७९२. [७]**भिक्षा-सेनाऽऽदायेषु चँ (३/२/१७)**

भिक्षाचरः। सेनाचरः। अदायेति ल्यबन्तम्-आदायचरः।

भिक्षा० इति— भिक्षा, सेना तथा आदाय उपपद रहते 'चर्' से 'ट' हो।

भिक्षां चरति — भिक्षाचरः। सेनां चरति — सेनाचरः।

आदाय ल्यप् प्रत्ययान्त है। आदाय चरति इति — आदायचरः।

७९३. [५]**कृञो हेतु-ताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु**[७] **(३/२/२०)**

एषु द्योत्येषु करोतेः 'टः' स्यात्।

कृञ इति— हेतु, ताच्छील्य और आनुलोम्य अर्थ में कृ से 'ट' हो।

ताच्छील्य का अर्थ है — स्वभाव। आनुलोम्य का अर्थ है — अनुकूलता।

७९४. [५]**अतः** [७]**कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशा-कर्णीष्वनव्ययस्य**[६] **(८/३/४६)**

आद् उत्तरस्याऽव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं साऽऽदेशः 'करोति' आदिषु परेषु। यशस्करीविद्या। श्राद्धकरः। वचनकरः।

अत इति— कृ, कमि, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा और कर्णी परे होने पर अकार के बाद समास में अनुत्तरपदस्थ विसर्जनीय यदि अव्यय का न हो तो उसे सकार हो।

यशः करोति। यशस् कृ ट (हेतु अर्थ में)। यशः कर। यहाँ जिह्वामूलीय को बाध कर सकार हो गया। यशस्कर। स्त्रीत्व में यशस्करी।

श्राद्धं कर्तुं शीलं यस्य सः श्राद्धकरः। वचनं करोति इति वचनकरः।

७९५. [५]**एजेः खश्**[१] **(३/२/२८)**

ण्यन्ताद् एजेः खश् स्यात्।

एजेरिति— ण्यन्त एज् से खश् हो, यदि कर्म उपपद हो।

इसके खकार (लशक्वतद्धिते) तथा शकार (हलन्त्यम्) इत्संज्ञक हैं।

७९६. [६]**अरुर्द्विषद्-अजन्तस्य मुम्**[१] **(६/३/६७)**

अरुषो द्विषतोऽजन्तस्य च 'मुम्' आगमः स्यात् खिदन्ते परे न तु-अव्ययस्य। शित्त्वात् शबादिः। 'जनमेजयति' इति जनमेजयः।

अरुषिति— अरुस्, द्विषत् और अजन्त शब्दों को मुम् आगम हो, खिदन्त परे रहते परन्तु अव्यय को न हो।

'खश्' शित् है। 'तिङ् शित् सार्वधातुकम्' के द्वारा खश् सार्वधातुक प्रत्यय है। अतः शप् (कर्तरि शप्) आदि कार्य होते हैं।

जनम् एजयति इति। जन एजि खश्। जन एजि शप् खश्। जन् एजि अ अ। जन एजे अ अ (गुण)। पर रूप (अतो गुणे)। जन एजे अ। 'अरुर्द्विषद्०' से मुम् आगम (मिदचोन्त्यात्परः)। जन मुम् एजे अ। जनमेजयः।

७९७. [७]**प्रिय-वशे वदः**[१] **खच्१ (३/२/३८)**

प्रियंवदः। वशंवदः।

प्रियेति— प्रिय या वश कर्म उपपद रहते वद् से 'खच्' हो।

प्रियं वदति। प्रिय वद् खच्। प्रिय मुम् वद् खच्। 'मुम्' के अन्त्य मकार तथा उकार का लोप। प्रिय म् वद् अ। 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार। प्रियं वद् अ। प्रियंवदः।

इसी प्रकार 'वशंवदः'।

७९८. [५]**अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३/२/७५)**

मनिन् क्वनिप् वनिप् विच्-एते प्रत्यया धातोः स्युः।

अन्येभ्य इति— (आकारान्त से) अन्य धातुओं से भी मनिन्, क्वनिप्, वनिप् और विच् हों।

मनिन् के नकार, इकार; क्वनिप् का ककार; वनिप् के इकार, पकार तथा विच् के वकार, इकार, चकार इत्संज्ञक हैं। क्वनिप् तथा वनिप् पित् हैं। अतः इनके परे रहते 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से तुक् होता है।

७९९. **नेड्[१] वशि[७] कृति[७] (७/२/८)**

वशादेः कृत इण् न स्यात्। शॄ हिंसायाम्-सुशर्मा। प्रातरित्वा।

नेति— वशादि कृत् प्रत्यय को इट् न हो। वश् एक प्रत्याहार है।

'सु शॄ + मनिन्' इस अवस्था में आर्धधातुक गुण (सार्वधातुकार्ध०) हुआ तथा इट् की प्राप्ति हुई। प्रकृत सूत्र के द्वारा इट् का निषेध हो गया। सुशर्मन् — सुशर्मा।

प्रातरेति। प्रातर् इ + क्वनिप्। यहाँ तुक् आगम हुआ। प्रातरित्वन् सु— प्रातरित्वा।

८००. [७]**विड्-वनोरनुनासिकस्यात्[१] (६/४/४१)**

अनुनासिकस्याऽऽतत्स्यात्। विजायत इति विजावा। ओणृ अपनयने अवावा। विच्-रुष रिष हिंसायाम्। रोट्, रेट्, सुगण्।

विड् इति- विट् या वन् प्रत्यय परे रहते अनुनासिक को आकार हो। 'वन्' के द्वारा वनिप् तथा क्वनिप् दोनों प्रत्ययों का ग्रहण होता है। विट् वैदिक प्रत्यय है।

विजायते। वि जन् वनिप्। अनुनासिक नकार को आकार हो गया। वि ज आ वन्। सवर्ण दीर्घ हो गया। वि जावन् सु— वि जावा।

ओणृ + वनिप् — ओण् वन् — ओ आ वन्। अवादेश हुआ। अवावन्। प्रथमा एकवचन में 'अवावा' बन गया।

रुष् विच्। सर्वापहार लोप हो गया। लघूपध गुण। रोष् सु हल्ङ्याब्भ्यो० से सु लोप। रोष्। झलां जशोऽन्ते। वाऽवसाने। प्रथमा में रोड्-रोट्।

इसी प्रकार 'रिष् विच्' से 'रेट्' बनेगा।

सु गण् विच्। सुगण्।

८०१. [१]**क्विप् च (३/२/७६)**

अयमपि दृश्यते। उखास्रत्। पर्णध्वत्। वाहभ्रट्।

क्विबिति— कर्त्ता अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय धातु से हो।

क्विप् का सर्वापहार लोप होता है।

उखायाः स्रंसते। 'उखा स्रंस् क्विप्' इस स्थिति में 'अनिदितां हल उपधाया' के द्वारा नलोप हो गया। तब सकार को 'वसुस्रंसुध्वंस्व०' से तकार होकर 'उखास्रत्' रूप बना।

'पर्ण ध्वंस् क्विप्' इस अवस्था में पूर्ववत् अनुनासिक लोप, सकार को तकारादेश (वसुस्रंसुध्वंस्वन —) होकर 'पर्णध्वत्' रूप बना।

वाहात् भ्रश्यति। वाह भ्रंश् क्विप्। अनुनासिक लोप तथा शकार को टकार होकर 'वाहभ्रट्' रूप बना।

८०२. [७]**सुप्यजातौ**[७] **णिनि**[१]**स्ताच्छील्ये**[७] **(३/२/७८)**

अजात्यर्थे सुपि धातोर्णिनिः, ताच्छील्ये द्योत्ये। उष्णभोजी।

सुपीति— जातिवाचक से भिन्न सुबन्त उपपद रहते धातु से णिनि हो ताच्छील्य अर्थ में।

उष्णं भुङ्क्ते तच्छीलः। उष्ण भुज् णिनि — उष्ण भोजिन् (लघूपध गुण- पुगन्तलघूपधस्य च)। तब प्रथमा एकवचन में 'उष्णभोजी' रूप बना।

८०३. मनः[५] (३/२/८२)

सुपि मन्यतेर्णिनिः स्यात्। दर्शनीयमानी।

मन इति— सुबन्त उपपद रहते 'मन्' से णिनि हो।

दर्शनीयं मन्यते। दर्शनीय मन् णिनि — दर्शनीय मानिन् (अत उपधाया)। प्रथमा एकवचन में 'दर्शनीयमानी' बना।

८०४. [७]**आत्ममाने** [१]**खश्च (३/२/८३)**

स्वकर्मके मनने वर्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् स्यात्, चात् णिनिः। पण्डितम् आत्मानं मन्यते पण्डितंमन्यः, पण्डितमानी।

आत्ममान इति— 'अपने को मानना' अर्थ में 'मन्' धातु से सुबन्त उपपद रहते 'खश्' हो।

'च' कहने से 'णिनि' भी होता है।

पण्डितम् आत्मानं मन्यते। यहाँ 'पण्डित मन् खश्' इस अवस्था में शित् होने से 'श्यन्' विकरण हो गया। 'अरुर्द्विषदजन्तस्य०' के द्वारा 'मुम्' आगम हो गया। पण्डित मुम् मन् श्यन्। 'मुम्' के मकार व उकार का तथा 'श्यन्' के शकार व नकार का लोप हो गया। पण्डित म् मन् य। प्रथमा एकवचन में 'पण्डितम्मन्यः' रूप बना। पक्ष में णिनि होकर 'पण्डितमानी' रूप बनेगा।

८०५. [७]**खित्यनव्ययस्य**[६] (६/३/६६)

(खिदन्ते परे) पूर्वपदस्य ह्रस्वः, (नत्वव्ययस्य ततो मुम्।) कालिंमन्या।

खितीति— खिदन्त परे रहते पूर्वपद को ह्रस्व हो, परन्तु अव्यय को न हो।

आत्मानं कालीं मन्यते। यहाँ 'काली मन् खश्' — इस स्थिति में श्यन्, मुम् ह्रस्व (खित्यनव्ययस्य) होकर 'कालिम्मन्य' रूप बना। स्त्रीत्व की विवक्षा में 'कालिम्मन्या' (अजाद्यष्टाप्, सु, लोप)।

८०६. [७]**करणे यजः**[५] (३/२/८५)

करणे उपपदे भूतार्थे यजेःर्णिनिः कर्तरि। सोमेनेष्टवान् सोमयाजी। अग्निष्टोमयाजी।

करण इति— करण उपपद रहते भूतकाल में यज् से कर्त्ता अर्थ में णिनि हो।

'सोमेन इष्टवान्' — इस विग्रह के अनुसार 'सोम यज् णिनि' यह स्थिति बनी। तब उपधा वृद्धि होकर 'सोमयाजी' रूप बना।

इसी प्रकार 'अग्निष्टोमयाजी' बना।

८०७. [५]**दृशेः क्वनिप्**[१] (३/२/९४)

कर्मणि भूते। पारं दृष्टवान्–पारदृश्वा।

दृशेरिति— कर्त्ता अर्थ में कर्म उपपद रहते भूतकाल में दृश् से क्वनिप् हो।

पारं दृष्टवान्। पार दृश् क्वनिप्। तब प्रथमा एकवचन में 'पारदृश्वा' रूप बना।

८०८. [७]**राजनि** [७]**युधि कृञः**[५] (३/२/९५)

क्वनिप् स्यात्। युधिरन्तर्भावितण्यर्थः। राजानं योधितवान्-राजयुध्वा राज-कृत्वा।

राजनीति— राजन् कर्म उपपद रहते युध् और कृञ् धातु से 'क्वनिप्' हो।

युध् धातु अन्तर्भावित ण्यर्थ ली जाती है। राजानं योधितवान्। 'राजन् युध् णिच् क्वनिप्' इस अवस्था में नलोप, णि लोप होकर 'राजयुध्वन्' रूप बना। प्रथमा एकवचन में 'राजयुध्वा' बनेगा। राजानं कृतवान्। राजन् कृ क्वनिप्। राजकृत्वन् (तुगागम, ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्) — राजकृत्वा।

८०९. [७]**सहे चँ** (३/२/९६)

'कर्मणि' इति निवृत्तम्। सह योधितवान्-सहयुध्वा। सहकृत्वा।

सह इति— सह उपपद रहते युध् तथा कृ धातु से क्वनिप् हो। 'कर्मणि' पद की अनुवृत्ति नहीं है।

सह योधितवान्। 'सह युध् णिच् क्वनिप्' इस अवस्था में णिलोप होकर 'सहयुध्वा' रूप बना। इसी प्रकार 'सहकृत्वा' बनेगा।

८१०. [७]**सप्तम्यां** [५]**जनेर्डः**[१] (३/२/९७)

सप्तम्यामिति— सप्तम्यन्त उपपद रहते 'जन्' से 'ड' हो।

'ड' का डकार इत्संज्ञक है (चुटू)।

८११. [७]तत्पुरुषे कृति[७] बहुलम्[१] (६/३/१४)

डेरलुक्। सरसिजम्, सरोजम्।

तत्पु० इति— तत्पुरुष समास में कृत् प्रत्यय परे रहते सप्तमी का बहुलता से लोप नहीं होता है।

'सरसि जायते' — इस के अनुसार 'सरस् ङि जन् ड' इस अवस्था में प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'सुपो धातु०' के द्वारा सुप् लोप प्राप्त था जिसका निषेध बहुलता से किया गया। सुब् लोप के निषेध पक्ष में 'जन्' धातु का 'टि' लोप होकर 'सरसि जम्' रूप बना। निषेध अभाव पक्ष में लोप होकर (सरस् ज् अ सु) 'सरोजम्' रूप बना।

८१२. [७]उपसर्गे चॅ संज्ञायाम्[७] (३/२/९९)

प्रजा स्यात् सन्ततौ जने।

उपसर्ग इति— संज्ञा में उपसर्ग पूर्वक 'जन्' से 'ड' हो।

प्र जन् ड — प्र ज् अ टिलोप — प्रज। स्त्रीत्व की विवक्षा में 'प्रजा' रूप बना।

'प्रजा' शब्द का अर्थ है — सन्तति, जन।

८१३. [१]क्त-क्तवतू निष्ठा[१] (१/१/२६)

एतौ निष्ठासंज्ञौ स्तः।

क्तेति— क्त तथा क्तवतु प्रत्यय निष्ठासंज्ञक हों।

८१४. निष्ठा[१] (३/२/१०२)

भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात्। तत्र '७७० तयोरेव - (३/४/७०)' इति भावकर्मणोः क्तः, '७७२ कर्तरि कृद् (३/४/६७)' इति कर्तरि क्तवतुः। उकावितौ। स्नातं मया। स्तुतस्त्वया विष्णुः। विश्वं कृतवान् विष्णुः।

निष्ठेति— भूतकाल के अर्थ में निष्ठासंज्ञक प्रत्यय हों।

उनमें से क्त प्रत्यय भाव और कर्म में (तयो रेव—से) होता है। क्तवतु (कर्तरिकृत् से) कर्त्ता अर्थ में होता है।

दोनों के उकार, ककार इत् हैं। ये आर्धधातुक प्रत्यय हैं।

'स्नातं मया' — यहाँ अकर्मक 'स्ना' धातु से भाववाच्य में 'क्त' प्रत्यय हुआ है।

'स्तुतस्त्वया विष्णुः' यहाँ 'स्तु' धातु से कर्म में क्त हुआ है। अतः कर्म में प्रथमा (विष्णुः) तथा कर्त्ता में तृतीया (त्वया) आई है।

'विश्वं कृतवान् विष्णुः' — यहाँ सकर्मक कृ धातु से कर्तृवाच्य में क्तवतु प्रत्यय हुआ है।

८१५. [५]रदाभ्यां निष्ठातो[६] नः[१] पूर्वस्य[६] चॅ दः[६] (८/२/४२)

रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नः स्यात्, निष्ठाऽपेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च। शॄ

हिंसायाम्, ऋत इत्, रपरः, णत्वम्-शीर्णः। भिन्नः। छिन्नः।

रेति— रेफ तथा दकार से पर निष्ठा के तकार को नकार तथा धातु के दकार को भी नकार हो।

'शॄ' का अर्थ है — हिंसा करना।

'शॄ क्त' — इस अवस्था में 'ॠत इद् धातोः' इर् आदेश, इकार को दीर्घ (हलि च) तथा प्रकृत सूत्र के द्वारा तकार को नकार हो गया। शिर् त — शीर् त — शीर् न। णत्व होकर 'शीर्णः' रूप बना।

'भिद् क्त' — लशक्वतद्धिते से क् इत्। रदाभ्यां निष्ठातो० से तकार को नकार। धातु के दकार को नकार होकर 'भिन्नः' रूप बना।

इसी प्रकार 'छिन्नः' रूप बना।

८१६. [५]**संयोगाऽऽदेरातो**[५] **धातो**[५]**र्यण्वतः**[५] (८/२/४३)

निष्ठातस्य न स्यात्। द्राणः। ग्लानः।

संयो० इति— संयोगादि, आकारान्त तथा यण् वाली धातु से परवर्त्ती निष्ठा के तकार को नकार होता है।

द्रा क्त — द्रान — 'अट् कुप्वाङ्०' से णकार। द्राणः।

ग्लै क्त — ग्ला त (आदेच उपदेशे०) — ग्लानः।

८१७. [५]**ल्वादिभ्यः** (८/२/४४)

एकविंशतेर्लूञादिभ्यः प्राग्वत्। लूनः। ज्या-धातुः, 'ग्रहिज्या-' इति संप्रसारणम्।

ल्वेति— लूञ् आदि इक्कीस धातुओं से पर निष्ठा के तकार को नकार हो।

लू क्त — लून — लूनः।

ज्या क्त — ज् इ आ न ('ग्रहिज्या०' के द्वारा सम्प्रसारण) — ज् इ न (सम्प्रसारणाच्च) — ज् इ न— ऐसा स्वरूप बन गया।

८१८. [१]**हलः** (६/४/२)

अङ्गावयवाद् हलः परं यत् संप्रसारणम् तदन्तस्य दीर्घः। जीनः।

हल इति— अङ्ग के अवयव हल् से पर जो सम्प्रसारण, वह है अन्त में जिसके, तदन्त को दीर्घ हो।

'ज् इ न' — इस अवस्था में दीर्घ होकर 'जीनः' रूप बना।

८१९. [५]**ओदितश्च** (८/२/४५)

भुजो-भुग्नः। टुओश्वि-उच्छूनः।

ओदित इति— ओदित् धातु से परे निष्ठा के तकार को नकार हो।

भुजो क्त — भुज् त — भुज् न — भुग्नः 'चोः कुः' के द्वारा कुत्व हो गया।

टु ओश्वि क्त — श्वित — श्विन — श् उ इन (वचिस्वपियजादी० से सम्प्रसारण) —

'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप। 'हलः' से दीर्घादेश। शून। उद् पूर्वक 'शून' करने पर 'उच्छूनः' रूप बनेगा।

८२०. [५]**शुषः कः**[१] (८/२/५१)

निष्ठातस्य कः। शुष्कः।

शुष इति— शुष् धातु से पर निष्ठा के तकार को ककार हो।

शुष् क्त — शुष्कः।

८२१. [५]**पचो वः**[१] (८/२/५२)

पक्वः। क्षै (हर्ष) क्षये।

पच इति— पच् से पर निष्ठा के तकार को वकार हो। पच् क्त — पच् व — पक्वः।

८२२. [५]**क्षायो मः**[१] (८/२/५३)

क्षामः।

क्षाय इति— क्षै धातु से पर निष्ठा के तकार को मकार हो।

क्षै क्त — क्षा म (आदेच उपदेशे० से आकार आदेश) — क्षामः।

८२३. [७]**निष्ठायां सेटि**[७] (६/४/५२)

णेर्लोपः। भावितः, भावितवान्। दृह हिंसायाम्-

निष्ठेति— सेट् निष्ठा परे रहते 'णि' का लोप हो।

ण्यन्त 'भू' से क्त हुआ। भू णिच् इट् क्त। 'णि' का लोप हो गया। (अचोञ्णिति) भावितः।

इसी प्रकार क्तवतु में 'भावितवान्' बना।

८२४. [१]**दृढः स्थूल-बलयोः**[७] (७/२/२०)

स्थूले बलवति च निपात्यते।

दृढ इति— स्थूल और बलवान् अर्थ में 'दृढ' शब्द का निपातन होता है।

'दृह् क्त' — यहाँ हकार को ढकार हुआ। दृढ् त। 'झषस्तथोर्धोधः' के द्वारा तकार को धकार हुआ। ष्टुत्व (ढकार) हुआ। दृढ् ध। दृढ् ढ। 'ढो ढे लोपः' के द्वारा ढकार लोप हुआ। दृढः।

८२५. [६]**दधातेर्हिः**[१] (७/४/४२)

तादौ किति। हितम्।

दधातेरिति— तकारादि कित् परे रहते 'धा' को 'हि' आदेश हो।

धा क्त — हित — हितम्।

८२६. [६]**दो** [१]**दद्घोः**[६] (७/४/४६)

घुसंज्ञकस्य 'दा' इत्यस्य 'दद्' स्यात् तादौ किति। चर्त्वम्-दत्तः।

द इति— घु संज्ञक दा को तकारादि कित् परे रहते 'दद्' आदेश हो।

दा क्त — दद्त — दत्त (चर्त्व) — दत्तः।

८२७. **लिटः**[६] **कानज्**[१] **वॉ (३/२/१०६)**

लिट् को विकल्प से कानच् हो। कानच् के चकार और ककार इत्संज्ञक हैं।

८२८. [१]**क्वसुश्च (३/२/१०७)**

लिटः कानज् क्वसुश्च वा स्तः। तङानावात्मनेपदम्। चक्राणः।

क्वसुरिति— लिट् के स्थान पर विकल्प से क्वसु भी होता है। क्वसु के ककार और उकार इत्संज्ञक हैं।

'तङानावात्मनेपदम्' के अनुसार कानच् की आत्मनेपद संज्ञा है।

कृ से लिट् के स्थान पर कानच् हुआ। तब द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर 'चकृ आन' यह रूप बना। यण् तथा णत्व होकर 'चक्राण' रूप बना।

८२९. [७]**म्वोश्च (८/२/६५)**

मान्तस्य धातोर्नत्वं म्वोः परतः। जगन्वान्।

म्वोरिति— मकार तथा वकार परे रहते मकारान्त धातु को नकार हो।

'गम् क्वसु' होने पर द्वित्व तथा अभ्यास कार्य हुआ। जगम् वस्। तब नकार होकर 'जगन्वस्' प्रादिपदिक बना।

८३०. [६]**लटः** [१]**शतृ-शानचावप्रथमासमानाधिकरणे**[७] **(३/२/१२४)**

अप्रथमान्तेन समानाधिकरणे लट एतौ वा स्तः। शबादिः। पचन्तं चैत्रं पश्य

लट इति— प्रथमान्त से भिन्न समानाधिकरण होने पर लट् के स्थान पर शतृ तथा शानच् होते हैं।

विशेषः — इस सूत्र में मण्डूक प्लुति न्याय से यहाँ 'नन्वोर्विभाषा' (३.२.१२१) से विभाषा की अनुवृत्ति होती है। यह 'विभाषा' व्यवस्थित विभाषा है। इस के अनुसार सूत्रार्थ इस प्रकार होगा — जब प्रथमा से समानाधिकरण होता है, तब लट् के स्थान पर विकल्प से शतृ तथा शानच् होते हैं। प्रथमा से भिन्न से समानाधिकरण होने पर शतृ तथा शानच् नित्य होते हैं।

शतृ के शकार तथा ऋकार इत्संज्ञक हैं। शानच् के शकार तथा चकार इत्संज्ञक हैं। शानच् आत्मनेपद-संज्ञक है। दोनों प्रत्यय शित् हैं। अतः सार्वधातुक संज्ञक हैं।

'पचन्तं चैत्रं पश्य' — यहाँ लट् के स्थान पर शतृ हुआ है। पच् शप् शतृ — पच अत् — पररूप। पचत्। प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'सु' की उत्पत्ति हुई।

८३१. [७]**आने** [१]**मुक् (७/२/८२)**

अदन्ताङ्गस्य 'मुग्' आगमः स्याद् आने परे। पचमानं चैत्रं पश्य। 'लट्' इत्यनुवर्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात् प्रथमा-सामाधिकरण्येऽपि क्वचित्। सन् द्विजः।

आन इति— आन परे रहते अदन्त अङ्ग को 'मुक्' हो।

'मुक्' के उकार तथा ककार इत्संज्ञक हैं।

पचमानं चैत्रं पश्य। यहाँ पच् से शानच् हुआ। शप् हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'मुक्' आगम हुआ। पच् शप् मुक् शानच्। अनुबन्ध लोप। पचमान। पचमान अम् (द्वि. एकव.) — पचमानम्।

'वर्तमाने लट्' से लट् की अनुवृत्ति करने पर भी पुनः 'लट्' ग्रहण से सूचित होता है कि प्रथमान्त के साथ समानाधिकरण होने पर भी कहीं-कहीं पूर्वोक्त प्रत्यय होते हैं। यथा— सन् द्विजः।

८३२. [५]विदेः [६]शतुर्वसुः[१] (७/१/३६)

वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा। विदन्। विद्वान्।

विदेरिति— विद् से पर शतृ को विकल्प से 'वसु' आदेश हो।

८३३. तौ[१] सत्[१] (३/२/१२७)

तौ शतृ-शानचौ सत्संज्ञौ स्तः।

ताविति— शतृ और शानच् सत् संज्ञक होते हैं।

विद् शतृ — विद् वसु — विद्वस् प्रातिपदिक बना। प्रथमा एकवचन में 'विद्वान्' बना। पक्ष में 'वसु' न होकर शतृ हुआ। 'विदत्' का प्रथमा एकवचन में 'विदन्' रूप बना।

८३४. [६]लृटः [१]सद् वाॅ (३/३/१४)

व्यवस्थितविभाषेयम्। तेनाऽप्रथमासामानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः संबोधने लक्षणहेत्वोश्च नित्यम्। करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य।

लृट इति— लृट् के स्थान पर विकल्प से सत् हों।

यह व्यवस्थित विभाषा है। अतः प्रथमा समानाधिकरण में प्रत्यय और उत्तरपद परे रहते, सम्बोधन में और लक्षण तथा हेतु अर्थ में नित्य हों।

करिष्यन्तं/करिष्यमाणं पश्य। यहाँ लृट् को क्रमशः शतृ तथा शानच् हुआ है। स्य तथा इट् होकर रूप बना है।

८३५. आॅ [५]क्वेस्तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु[७] (३/२/१३४)

क्विपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः, तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः।

एति— क्विप् तक कहे गये प्रत्यय, तच्छील, तद्धर्म तथा तत्साधुकारी कर्त्ता अर्थ में होते हैं।

८३६. [१]तृन् (३/२/१३५)

कर्ता कटान्।

तृन्निति— कर्त्ता अर्थ में धातु से 'तृन्' हो।

कृ तृन्। गुण हो गया। सु, कर्त्ता।

८३७. [५]**जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः** [१]**षाकन्** (३/२/१५५)

जल्पेति— तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में जल्प, भिक्ष, कुट्ट, लुण्ट् तथा वृङ् से षाकन् हो। षाकन् के षकार (षः प्रत्ययस्य) तथा नकार इत्संज्ञक हैं।

८३८. **षः** [१] **प्रत्ययस्य** [६] (१/३/६)

प्रत्ययस्याऽऽदिः ष इत्संज्ञः स्यात्। जल्पाकः। भिक्षाकः। कुट्टाकः। लुण्टाकः। वराकः, वराकी।

ष इति— प्रत्यय का आदि षकार इत्संज्ञक हो।

जल्प् षाकन् — जल्पाक (बोलने के स्वभाव वाला)

भिक्ष् षाकन् — भिक्षाक (भीख के स्वभाव वाला)

कुट्ट् षाकन् — कुट्टाक (कूटने के स्वभाव वाला)

लुण्टाक— (लुटेरा)

वराक— (बेचारा)। वराक ङीष्— षिद्गौरादिभ्यश्च। लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम्। यस्येति च। व रा क् ई सु— हल्ङ्याब्भ्यो०।

मूल में प्रथमा एकवचन के रूप दिखाये हैं।

८३९. **सनाशंस-भिक्ष**[५] **उः**[१] (३/२/१६८)

चिकीर्षुः। आशंसुः। भिक्षुः।

सन्निति— सन् प्रत्ययान्त, आ शंस् और भिक्ष् से 'उ' हो।

सन्नन्त 'चिकीर्ष' से 'उ' हुआ। 'अतो लोपः' के द्वारा अकार लोप हुआ। चिकीर्षुः।

इसी प्रकार— आशंसुः तथा— भिक्षुः रूप बनेंगे।

८४०. [५]**भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पॄ-जु-ग्रावस्तुवः क्विप्**[१] (३/२/१७७)

विभ्राट्। भाः।

भ्राजेति— भ्राज, भास्, धुर्वि, द्युत्, उर्ज्, पॄ, जु, ग्राव तथा स्तु से क्विप् हो।

'वि भ्राज् क्विप्' — यहाँ क्विप् का सर्वापहार लोप (हलन्त्यम्, उपदेशेऽजनु०, अपृक्त एकाल्०, वेरपृक्तस्य) हो गया। विभ्राज्। प्रथमा एकवचन में 'विभ्राट्' बना। विभ्राज् सु— हल्ङ्याब्भ्यो०। व्रश्चभ्रस्जसृजमृज०। विभ्राष्-झलां जशोऽन्ते। विभ्राड्-वाऽवसाने। 'भास् क्विप्' से 'भास्' प्रातिपदिक बना। प्रथमा एकवचन में 'भाः' रूप बना।

८४१. [५]**राल् लोपः**[१] (६/४/२१)

रेफात् च्छ्वोः लोपः क्वौ झलादौ क्ङिति। धूः। विद्युत्। ऊर्क्। पूः। दृशिग्रहणस्यापकर्षाद् जवतेर्दीर्घः। जूः। ग्रावस्तुत्।

(वा०) क्विब् वचि-प्रच्छ्यायत-स्तु-कटप्रु-ज-श्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च।
'वक्ति' इति वाक्।

रादिति— क्वि और झलादि कित्, ङित् परे रहते रेफ से पर 'च्छ' तथा 'व' का लोप हो।

धुर्व् क्विप् — धुर्व्। प्रकृत सूत्र से 'व्' का लोप। र्वोरुपधाया दीर्घ इकः से दीर्घ। — धुर्। तब प्रथमा एकवचन में 'धूः' रूप बना।

'विद्युत् क्विप्' — इस अवस्था में क्विप् का सर्वापहार लोप होकर रूप 'विद्युत्' बना।

ऊर्ज् क्विप् — ऊर्ज्। ऊर्ज् सु— हल्ङ्याब्भ्यो०। रात्सस्य के नियम से ज् का लोप न हुआ। चोः कुः। ऊ र्ग्। वाऽवसाने। — ऊर्क्। इसी प्रकार 'पूः' रूप बनेगा।

'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' — इस सूत्र में 'दृशि' पद के ग्रहण का तात्पर्य यह है कि अन्य कार्य भी होते हैं। अतः 'जु' धातु को क्विप् में दीर्घ भी होगा। जूः।

ग्राव स्तु क्विप्। तुगागम होकर 'ग्रावस्तुत्' रूप बनेगा।

(वा०)— वच्, प्रच्छ्, आयत, स्तु, कट प्रु, जु तथा श्रि से क्विप् प्रत्यय, दीर्घादेश तथा सम्प्रसारण का अभाव हो।

वक्ति इति वाक्। वच् क्विप् — वाच्। वाच् सु (सुलोप प्रत्ययलक्षण से पद संज्ञा, चोः कुः से कुत्व) — वाक्।

८४२. [६]च्छ्-वोः शूड्[१] अनुनासिके[७] चँ (६/४/१९)

सतुक्कस्य छस्य वस्य च क्रमात् 'श' 'ऊठ्' इत्यादेशौ स्तोऽनुनासिके क्वौ झलादौ च क्ङिति। पृच्छतीति-प्राट्। आयं स्तौति-आयतस्तूः।

कटं प्रवते-कटप्रूः। जूः- उक्तः। श्रयति हरिम् - श्रीः।

च्छ्वोरिति— अनुनासिक, क्वि या झलादि कित् ङित् परे रहते तुक् सहित छकार तथा वकार को क्रमशः 'श' तथा ऊठ् आदेश हों।

पृच्छति इति प्राट्। प्रच्छ् क्विप् — प्राच्छ् — प्राश् — प्राष् (व्रश्चभ्रस्जसृज०) — प्राट्। (झलां जशोऽन्ते, वाऽवसाने)। आयत स्तु क्विप् — आयतस्तू — आयतस्तूः। कट प्रु — कटप्रू — कटप्रूः। श्रि + क्विप् — श्री — श्रीः।

८४३. [५]दाम्नी-शस-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-दश-नहः [७]करणे (३/२/१८२)

दाबादेः ष्ट्रन् स्यात्करणेऽर्थे। दात्यनेन दात्रम्। नेत्रम्।

दाबिति— दाप् (काटना), नी (ले जाना), शस् (मारना), यु (मिलाना), युज् (जोड़ना), स्तु (स्तुति करना), तुद् (पीड़ा पहुँचाना), सि (बन्धन), सिच् (सींचना), मिह् (सींचना), पत् (गिरना), दश् (डसना) और नह् (बाँधना) धातुओं से करण अर्थ में ष्ट्रन् प्रत्यय हो। ष्ट्रन् के षकार (षः प्रत्ययस्य) और नकार इत्संज्ञक हैं।

दाति अनेन। दा ष्ट्रन् — दा्त्र — दात्रम्।

नी ष्ट्रन् — ने ष्ट्रन् (गुण) — नेत्रम्।

८४४. [७]ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु चँ (७/२/९)

एषां दशानां कृत्प्रत्ययानाम् इण् न। शस्त्रम्। योत्रम्। योक्त्रम्। स्तोत्रम्। तोत्त्रम्। सेत्रम्। सेक्त्रम्, मेढ्रम्। पत्त्रम्। दंष्ट्रा। नद्ध्री।

तीति— ति आदि दश कृत् प्रत्ययों को इट् न हो।

'ति' (का अर्थ है) -- क्तिन्, क्तिच्। तु — तुन्।

त — तन्। त्र — ष्ट्रन्।

थ -- क्थन्। सि — क्सि।

सर — सरन्। क — कन्।

इन्हें वलादि आर्धधातुक इट् प्राप्त था

शस् ष्ट्रन् — शस्त्रम्। यु ष्ट्रन् — योत्रम् (गुण)।

युज् ष्ट्रन् — योक्त्रम्। स्तु + ष्ट्रन् — स्तोत्रम्।

इसी प्रकार तुद्, सि, सिच्, मिह्, पत्, दंश् तथा नह् से क्रमशः तोत्रम् (चाबुक), सेत्रम् (बन्धन), सेक्त्रम् (सींचने का पात्र), मेढ्रम् (लिङ्ग), पत्रम्, (पत्ता, सवारी), दष्ट्रम्, (दाढ) तथा नध्री (चमड़े की रस्सी) रूप बनेंगे।

८४५. [५]अर्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चर इत्रः [१] (३/२/१८४)

अरित्रम्। लवित्रम्। धवित्रम्। सवित्रम्। खनित्रम्। सहित्रम्। चरित्रम्।

अर्तीति— ऋ (जाना), लू (काटना), धू (कँपाना), सू (पैदा करना), खन् (खोदना), सह् (सहना) और चर् (चलना) से इत्र होता है।

ऋ + इत्र — अर् इत्र — अरित्रम् (नाव चलाने का डंडा)।

लू + इत्र — लो इत्र — लवित्र — लवित्रम् (चाकू)।

धू इत्र — धवित्रम् (पंखा)। सार्वधातुकार्ध०। धू इत्र- यह धातु कुटादि गण में पठित है। अतः गाङ् कुटादिभ्य० के द्वारा इत्र ङिद्वत् हुआ। प्राप्त आर्धधातुक गुण का निषेध। अचिश्नुधातु० से उवङ्। धुवित्र सु—धुवित्रम्। कुछ विद्वान् ङिद्वद्भाव को अनित्य मानते हैं। उस पक्ष में गुण होकर धवित्रम् बनता है।

खनित्रम् (कुदाल), सहित्रम् (छात्रा), चरित्रम् (आचरण)।

८४६. [५]पुवः संज्ञायाम् ७ (३/२/१८५)

पवित्रम्। इति पूर्वकृदन्तम्।

पुव इति— संज्ञा में 'पू' धातु से 'इत्र' हो।

पू इत्र — पो इत्र — पवित्रम्।

॥ पूर्वकृदन्त समाप्त ॥